जनसत्ता

पारदर्शिता का तकाजा

देश का लोकतंत्र इसलिए अब तक मजबूत हो सका है कि यहां न केवल सहमति-असहमति के लिए पर्याप्त गुंजाइश है, बल्कि सम्मानजनक जगह है। इससे भी अच्छी बात यह है कि लोकतंत्र को मजबूत करने वाली अमूमन सभी संस्थाएं अपने कामकाज को लेकर पारदर्शिता बरतती हैं और आम अवाम को उनके फैसलों और उसकी प्रक्रिया के बारे में जानने का हक होता है। लेकिन देश की दिशा तय करने वाली किसी संस्था के काम को लेकर अगर आधी-अधूरी जानकारी सामने आती है या फिर लोगों के सामने अनुमान के आधार पर राय बनाने की नौबत पैदा होती है तो यह कोई आदर्श स्थिति नहीं है। गौरतलब है कि सत्रहवीं लोकसभा के लिए जारी चुनावों के दौरान आचार संहिता के उल्लंघन की शिकायतों पर केंद्रीय चुनाव आयोग की सुनवाई और उसके कुछ फैसलों पर उठे सवालों के संदर्भ में यह खबर आई कि आयोग के सदस्यों के बीच असहमति के स्वर भी उभरे, लेकिन उसके बारे में शिकायतकर्ता को पता नहीं चला। प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी और भाजपा अध्यक्ष अमित शाह के बारे में चुनाव आचार संहिता का उल्लंघन करने की शिकायत पर आयोग ने क्लीन चिट दी। लेकिन खबरों के मुताबिक आयोग में इसे लेकर सर्वसम्मति नहीं थी और एक सदस्य ने उसके फैसले से असहमति जताई थी।

कायदे से आयोग के पास पहुंची शिकायत, उस पर सुनवाई और फैसलों पर सर्वसम्मति और बहुमत का पूरा ब्योरा रिकार्ड में दर्ज होना चाहिए। लेकिन कुछ वजहों से ऐसा नहीं हो पाया था। अब इस मसले पर दो पूर्व मुख्य चुनाव आयुक्तों ने अपनी राय जाहिर की है। एक का कहना है कि आयोग के फैसले से सचिव शिकायतकर्ता को अवगत कराता है, मगर उस सूचना में यह साफ होना चाहिए कि फैसला सर्वसम्मति से लिया गया या बहुमत से। यानी शिकायतकर्ता को यह जानने का हक है कि किस सदस्य ने असहमति जाहिर की। इस मसले पर दूसरे पूर्व आयुक्त की राय है कि सुप्रीम कोर्ट की तरह चुनाव आयोग की वेबसाइट पर भी असहमति का नोट देना चाहिए। जाहिर है, दोनों पूर्व आयुक्तों ने ऐसी पारदर्शिता की वकालत की है, जिसके बूते चुनाव आयोग की विश्वसनीयता बनी हुई है। यों भी, अगर कोई पक्ष चुनाव आयोग के पास शिकायत लेकर पहुंचता है तो इस भरोसे के साथ ही कि वहां उस पर निष्पक्ष सुनवाई होगी और जो भी फैसला होगा, उसके बारे में पूरी जानकारी मुहैया कराई जाएगी। किन्हीं स्थितियों में ऐसा नहीं होता है तो जानकारी के अभाव में भ्रम की हालत पैदा होती है।

भारत में चुनाव आयोग एक ऐसी संस्था है, जिसके बारे में आमराय यही रही है कि उसके कामकाज और फैसलों में इस स्तर की निष्पक्षता होती है कि उस पर कोई विवाद नहीं हो। यह इसलिए संभव हो सका है कि आमतौर पर आयोग समूची चुनाव प्रक्रिया से लेकर किसी भी पार्टी के बारे में सकारात्मक या नकारात्मक स्तर पर लिए गए फैसलों में जरूरी संतुलन और निष्पक्षता बरतता है। यही वजह है कि उसके ज्यादातर फैसलों को लेकर लोगों और राजनीतिक दलों के बीच कोई बड़ी शिकायत नहीं पाई जाती। लेकिन कई बार किसी पक्ष के असंतुष्ट होने पर अगर समूची प्रक्रिया और फैसले से संबंधित जानकारी पारदर्शी रहे तो इस असुविधा से बचा जा सकता है। इसलिए दो पूर्व मुख्य चुनाव आयुक्तों की राय की अपनी अहमियत है। जिस तरह सुप्रीम कोर्ट के फैसलों को वेबसाइट पर रखा जाता है, उसी तरह अगर चुनाव आयोग में भी सर्वसम्मति या बहुमत से लिए गए निर्णय का ब्योरा मौजूद रहे तो इस पारदर्शिता और विश्वसनीयता से आयोग की साख ही मजबूत होगी।

वोट और हिंसा

लोकसभा चुनाव के पांचवें चरण का मतदान निपट चुका है। इसमें सात राज्यों की इक्यावन सीटों के लिए वोट पड़े और दिग्गज उम्मीदवारों की तकदीर वोटिंग मशीनों में बंद हो गई। इनमें कांग्रेस अध्यक्ष राहुल गांधी, सोनिया गांधी, केंद्रीय गृहमंत्री राजनाथ सिंह जैसे कई वीआइपी उम्मीदवार शामिल हैं। उत्तर प्रदेश और बिहार में मतदान का प्रतिशत पहले जैसा नहीं रहा। लेकिन पश्चिम बंगाल में पांचवें चरण में भारी मतदान के बीच फिर जो हिंसा देखने को मिली, उसका अंदेशा पहले से ही था। यों चुनाव देश भर में ही कड़े मुकाबले वाला और दिलचस्प बना हुआ है, लेकिन एक तरह से केंद्र बिंदु पश्चिम बंगाल है, जहां शुरू से लेकर अब तक एक भी चरण ऐसा नहीं रहा जिसमें हिंसा मुक्त चुनाव हुए हों। अगर छिटपुट घटनाओं को छोड़ दें तो पश्चिम बंगाल जैसी हिंसा अभी तक किसी राज्य में देखने को नहीं मिली है। ये हिंसक झड़पें बता रही हैं कि राज्य में चुनाव जीतने के लिए तृणमूल कांग्रेस और भाजपा के बीच किस कदर कड़ा मुकाबला है, जिसमें दोनों ही पक्षों को खुद पर नियंत्रण रखना जरूरी नहीं लग रहा। दोनों के लिए एक-एक सीट जीवन-मरण का सवाल बनी हुई है। उत्तर प्रदेश में भाजपा को जो नुकसान होता दिख रहा है उसकी भरपाई की उम्मीद शायद उसे पश्चिम बंगाल से है। जबकि राज्य में सत्तारूढ़ तृणमूल कांग्रेस के सामने अपना गढ़ बचाए रखने की चुनौती है। बंगाल की चुनावी हिंसा के मूल में यह बड़ा कारण है।

वहां चुनावी हिंसा चिंता का विषय इसलिए भी है कि भारी संख्या में सुरक्षा बलों की तैनाती के बावजूद इस तरह की घटनाएं थम नहीं रहीं। वोट डालने जा रहे लोगों को ईंट-डंडों से पीटने, धमकाने, बम विस्फोट, हमले जैसी घटनाएं हैरान करने वाली हैं। इससे पता चलता है कि पुलिस और सुरक्षा बल भी अपनी जिम्मेदारी निभा पाने में नाकाम साबित हो रहे हैं। पश्चिम बंगाल में पिछले चार चरणों में हिंसा की जो घटनाएं हुईं, उनसे चुनाव आयोग ने कोई सबक नहीं लिया। चुनाव के दौरान हिंसा न हो और मतदाता बिना किसी भय के वोट डालें, यह सुनिश्चित करना चुनाव आयोग की जिम्मेदारी है। सवाल है कि राज्य में राजनीतिक दलों के कार्यकर्ताओं के पास हथियार आ कहां से रहे हैं? स्थानीय पुलिस और खुफिया एजेंसिया कर क्या रही हैं? चुनावी हिंसा में लिप्त लोगों को काबू में क्यों नहीं किया जा पा रहा?

मतदान के दौरान हिंसा की घटनाएं बिहार और कश्मीर से भी सामने आई हैं। मुंगेर में मतदान केंद्रों पर कब्जे की खबरें हैं। ऐसे में सवाल उठता है कि मतदान केंद्रों पर तैनात सुरक्षा बल आखिर उस वक्त लाचार क्यों हो जाते हैं। कश्मीर घाटी की अनंतनाग सीट के लिए तीन चरणों में मतदान पूरा हो चुका है और तीसरे चरण में ढाई फीसद से थोड़े ज्यादा ही वोट पड़े। हैरानी की बात तो यह है कि पुलवामा और शोपियां में पच्चीस फीसद मतदान केंद्रों पर तो एक वोट भी नहीं पड़ा। इसकी एक बड़ी वजह यह मानी जा सकती है कि लोग आतंकवादियों के खौफ से मतदान करने घरों से नहीं निकलते। लेकिन जब पूरा कश्मीर सेना और सुरक्षाबलों की छावनी बना हुआ है और आजकल खासतौर से जब चुनाव हो रहे हैं तो फिर लोगों में खौफ क्यों है? अगर सरकार यह सुनिश्चित नहीं कर पाती कि लोग बिना किसी खौफ के वोट डाल सकें, सिर्फ कश्मीर में ही नहीं सभी जगह, तो यह भय मुक्त, स्वतंत्र और निष्पक्ष चुनाव कराने के दावे पर बड़ा सवालिया निशान है।

कल्पमेधा

तर्क केवल बुद्धि का विषय है। हृदय की सिद्धि तक बुद्धि नहीं पहुंच सकती। जिसे बुद्धि माने मगर हृदय न माने, वह तजने योग्य है।
-महात्मा गांधी

ब्रिटेन के संदेश की अहमियत

संजय कुमार सिंह

ब्रिटेन में यह फैसला किया गया है कि 2050 तक कार्बन उत्सर्जन को अस्सी फीसद तक कम करना है। इसके बाद वह कार्बन उत्सर्जन के मामले में 1990 के स्तर पर आ जाएगा। जलवायु संकट रोकने की दिशा में काम कर रहे सलाहकारों का कहना है कि 2050 तक ग्रीनहाउस गैसों को शून्य तक करना संभव है, लेकिन उसके लिए सार्वजनिक उपभोग, उद्योग और सरकार की नीतियों में बड़े बदलाव की जरूरत है।

जलवायु परिवर्तन से निपटने के लिए इमरजंसी घोषित करने वाला ब्रिटेन दुनिया का पहला देश है। इस मुद्दे पर लंदन में ग्यारह दिन तक विरोध चलने के बाद ब्रिटेन की संसद ने पर्यावरण और जलवायु संकट को लेकर इमरजंसी की घोषणा की है। दिलचस्प यह है कि देश में जलवायु संकट की गंभीरता को देखते हुए विपक्ष ने इमरजंसी घोषित करने का प्रस्ताव किया और इसे मान लिया गया। यह जान कर आश्चर्य होगा कि इमरजंसी की इस घोषणा से पहले ही देश के दर्जनों शहरों और कस्बों में जलवायु संकट को लेकर आपात स्थिति महसूस की जा रही थी। ब्रिटेन के इस कदम के बाद उम्मीद की जाती है कि दुनिया भर में संसदें और सरकारें जलवायु संकट को धरती का सबसे बड़ा खतरा मानते हुए इस दिशा में गंभीरता से काम करेंगी।

जलवायु संकट एक अपात स्थिति क्यों है, इसे समझने के लिए जानना होगा कि आखिर यह संकट क्या है, क्यों है और इसे कैसे कम किया जाए। असल में भारी औद्योगीकरण, ऊर्जा के साधनों का बेहताशा इस्तेमाल और उसमें लगातार वृद्धि इस स्थिति के लिए सबसे अधिक जिम्मेदार हैं। इसे नियंत्रण में लाने के लिए सभी देशों में कार्बन उत्सर्जन शून्य करने की नीतियां तय करनी होंगी और लक्ष्य को 2050 तक हासिल करने के प्रयास करने होंगे। सरकार को ऐसी व्यवस्था करनी होगी जिससे आने वाला हर नया वाहन बिजली या सौर ऊर्जा से चलना वाला हो। उसके बाद इन वाहनों को चार्ज करने के लिए बुनियादी ढांचे का निर्माण करना होगा। यह बड़ी चुनौती है।

यही नहीं, कृषि आधारित नीतियों को मजबूत करना होगा ताकि अधिक से अधिक किसानों को प्रोत्साहन मिले। वन्य क्षेत्र में इजाफा करना होगा, 2050 तक जंगलों के दायरे को तेरह से सत्रह फीसद तक बढ़ाना होगा। ब्रिटेन में लोग 2030 तक कार्बन से मुक्ति चाहते हैं, यानी कार्बन उतना ही बने जितना प्राकृतिक रूप से समायोजित किया जा सके। जलवायु परिवर्तन पर आपात स्थिति की मांग एक छोटे-से समूह ने लंदन में की थी। इसके बाद यह आंदोलन बढ़ता हुआ पूरे देश में एक जनांदोलन बन गया। प्रदर्शनकारियों ने शहर की सड़कों को तो बंद किया ही, लंदन की भूमिगत परिवहन प्रणाली को भी बंद कर दिया गया। इसके बाद ही सरकार ने जलवायु संकट पर इमरजंसी की घोषणा की है।

औद्योगिक क्रांति के बाद से पृथ्वी का औसत तापमान साल दर साल बढ़ रहा है। 'इंटर-गवर्मेंटल पैनल ऑन क्लाइमेट चेंज' (आइपीसीसी) की रिपोर्ट ने पहली बार इससे आगाह किया था। अब इसके दुष्परिणाम भी सामने आने लगे हैं। गर्मियां लंबी होती जा रही हैं और सर्दियां छोटी। पूरी दुनिया में ऐसा हो रहा है। प्राकृतिक आपदाओं की आवृत्ति और प्रवृत्ति बढ़ चुकी है। ऐसा ग्रीनहाउस गैसों के उत्सर्जन की वजह से हो रहा है, जो कारखानों, मशीनों और गाड़ियों से होता है। ऐसे में यह कहना गलत नहीं होगा कि इस मामले में भी ब्रिटेन गंभीर और अग्रणी दिखाई दे रहा है और यह सिर्फ वहां की सरकार के कारण नहीं है। सच पूछिए तो आम आदमी के कारण इमरजंसी की घोषणा हुई है और जब ऐसा हो गया है तो आगे की कार्रवाई भी होगी। लेकिन जलवायु के मामले में हम यह सोच कर निश्चिंत नहीं हो सकते कि यह ब्रिटेन की समस्या है।

सच तो यह है कि ब्रिटेन इससे निपटने के उपाय करेगा तो दूसरी जगह इसका असर ज्यादा महसूस किया जाएगा। इसलिए जरूरी है कि हर जगह इस पर काम हो और जो स्थिति है, उसमें युद्धस्तर पर काम किए जाने की जरूरत है। भारत में निजी क्षेत्र की कुछ कंपनियों ने अपने स्तर पर इस दिशा में पहल की है। लेकिन आमतौर पर अभी मामला बहुत ढीला है। सरकार ने नेशनल ग्रीन ट्रिब्यूनल (एनजीटी) बनाया जरूर है और यह प्रदूषण फैलाने वालों को रोकता भी है, पर समस्या विकल्प नहीं होने के कारण ज्यादा गंभीर है। नतीजा यह है कि एनजीटी के फैसले प्रभावी होने के बावजूद परेशान करने वाले होते हैं। इसलिए एनजीटी को लोग मजबूरी मान रहे हैं, जबकि यह जरूरी है और इसके आदेशों-प्रयासों को समझने की जरूरत है।

ब्रिटेन में यह फैसला किया गया है कि 2050 तक कार्बन उत्सर्जन को अस्सी फीसद तक कम करना है। इसके बाद वह कार्बन उत्सर्जन के मामले में 1990 के स्तर पर आ जाएगा। जलवायु संकट रोकने की दिशा

में काम कर रहे सलाहकारों का कहना है कि 2050 तक ग्रीनहाउस गैसों को शून्य तक करना संभव है, लेकिन उसके लिए सार्वजनिक उपभोग, उद्योग और सरकार की नीतियों में बड़े बदलाव की जरूरत है। दूसरी ओर, यह भी तथ्य है कि जो उपाय अभी किए जाएंगे तो उनका प्रभाव 2030 से दिखना शुरू होगा, जबकि 2018 में जलवायु संकट से संबंधित सभी रेकार्ड टूट चुके हैं। ब्रिटेन अठारह विकसित देशों में अकेला है जहां एक दशक में कार्बन उत्सर्जन सबसे कम रहा है। इसकी वजह यह है कि ब्रिटेन 1990 में ही कोयला की जगह प्राकृतिक गैस का उपयोग करने लगा था। 1980-90 में ब्रिटेन के कोयला उद्योग का लगभग सफाया हो गया था। उद्योग के अन्य क्षेत्रों में सन 2000 के अंत में लगभग एक लाख से अधिक नौकरियां चली गई थीं। लेकिन उद्योग के अन्य क्षेत्रों जैसे अक्षय ऊर्जा और प्रौद्योगिकी के निम्न-कार्बन रूपों में अनुसंधान और विकास ने तेजी से प्रगति की है। हाल के दशकों में देखा जा रहा है कि कई विकासशील देश विद्युत उर्जा के पक्ष में काम कर रहे हैं, जबकि पहले ऐसा करने से मना कर दिया था।

संयुक्त राष्ट्र का कहना है कि जलवायु परिवर्तन की तबाही को सीमित करने के लिए हमारे पास सिर्फ बारह साल बचे हैं। ब्रिस्टल कौंसलर कार्ला डेनियर वो शख्स हैं जिन्होंने पहली बार 'क्लाइमेंट चेंज इमरजंसी' घोषित करने का विचार सामने रखा था, जिसे नवंबर में नगर परिषद ने प्रस्ताव के रूप में पास कर दिया। कार्ला डेनियर कहती हैं, 'हमें यह मान लेना चाहिए कि स्थिति गंभीर है। कार्बन उत्सर्जन की कमी के लिए सिर्फ स्थानीय स्तर पर काम करना काफी नहीं है। इसके बारे में सबको जागरूक करने की जरूरत है।' इस बात को जब सबने महसूस किया तो संयुक्त राष्ट्र ने पेरिस समझौत पर ध्यान केंद्रित किया। पेरिस समझौता 2016 में हुआ था। इसके प्रस्ताव पर एक सौ सनतानवे देशों ने हस्ताक्षर किए थे। इसके अनुसार सभी देश इस बात पर राजी हो गए थे कि वैश्विक तापमान को कम करने के लिए कार्बन का उत्सर्जन भी कम करना पड़ेगा। इसका उद्देश्य था कि वैश्विक तापमान दो डिग्री सेल्सियस तक पहुंचाना और उद्योगों का तापमान डेढ़ डिग्री सेल्सियस से ज्यादा नहीं होने देना। यह पक्का है कि अगर चाहें तो हम ग्रीनहाउस गैसों के संकट से दूर हो सकते हैं। उसके लिए सकल घरेलू उत्पाद में वृद्धि करनी पड़ेगी, जैसा ब्रिटेन ने हाल के वर्षों में किया।

जलवायु संकट एक बड़ी समस्या है और ज्यादातर देशों के लिए कार्बन का उत्सर्जन कम करना मुश्किल है। हालांकि धीरे-धीरे कुछ देश जागरूक हो रहे हैं। ब्रिटेन ने कार्बन के उत्सर्जन को कम करने में कामयाबी हासिल कर ली, उसे देख कर ही चीन ने भी कार्बन के उत्सर्जन को कुछ मात्रा में कम किया। ऐसे समय में जब राजनेता 'संसाधनों के भीतर रहने' की बात करते हैं, उस पर चर्चा करते हैं, लेकिन इसमें पैसे की व्यवस्था की बात आती है तो हम आने वाली पीढ़ियों पर विचार करने लगते हैं। पर्यावरण पर काम करने की बजाय, हम उसमें आने वाली लागत को लेकर बहस करने लगते हैं और उसमें फंसे रह जाते हैं। धरती को बचाने के लिए ब्रिटेन जिस रास्ते पर बढ़ा है, बाकी देशों को भी उसी का अनुसरण करना चाहिए।

सांवला सलोना है

रजनीश जैन

दुनिया मेरे आगे

बाजार अपना विस्तार कर चुका है और अब वह बाजार के परिभाषित दायरे से निकल कर हमारे घरों तक आ पहुंचा है। बाजार अपनी यात्रा में सबसे पहले जिसे कुचलता है, वे मानवीय संवेदनाएं ही होती हैं। उत्तर प्रदेश से एक खबर आई थी कि एक महिला ने अपने पति को सिर्फ इस बात के लिए जिंदा जला दिया कि उसका रंग सांवला था! भारतीयों की गोरे रंग के प्रति आसक्ति की यह पराकाष्ठा है। चुनाव के हल्ले में लगभग अनदेखी करने लायक जगह मिलने की स्थिति में यह लोमहर्षक खबर अगर समाज को आंदोलित नहीं करती तो मान लेना चाहिए कि संवेदनाएं शून्य हो चुकी हैं। गोरा रंग नहीं होने की वजह से समाज की नजर में बहुस्तरीय उपेक्षा और नकार झेलने वाली लड़कियों या महिलाओं की जिंदगी हम सबने आसपास देखी होगी। लेकिन अब उसका असर दूसरी ओर भी पड़ना शायद लाजिमी ही है।

ऐतिहासिक संदर्भ बताते हैं कि 'गौरवर्ण' के लिए हमारा उतावलापन न केवल विदेशियों के हम पर ढाई सौ बरस शासन का परिणाम है, बल्कि इससे पहले से भी हमारे अवचेतन में इस तथ्य का गहरे से उतर गया होना है कि गौरवर्णीय लोग ज्यादा बुद्धिमान, साहसी और समझदार रहे हैं। अंग्रेजों की विदाई के बाद जैसे ही हमारे बाजार विकसित होने लगे, हमारे सामने रूसी थे। शासक अंग्रेजों के बाद सहयोगी रूसी भी सुर्ख गोरे थे। जिस ब्रिटिश शासन और अत्याचारों से हमें नफरत थी, उनके रंग से हमें प्यार हो गया था। बाजार ने यह बात गहरे तक उतार दी है कि सांवला रंग हीन भावना और समाज के निम्न स्तर का प्रतिनिधित्व करता है। अगर जीवन में कुछ करना है तो वह गोरे रंग की वजह से ही संभव हो पाएगा। अगर आपका रंग गेहुंआ है तो उसे बदले बगैर आप आगे नहीं बढ़ सकते।

हमारी इसी कमजोरी को भुनाने के मकसद से 1978 में बहुराष्ट्रीय कंपनी ने एक उत्पाद बाजार में उतारा था जो गुजरे चालीस वर्षों से गोरेपन की एक मशहूर क्रीम के रूप में बाजार में बिक रहा है। इसका उपयोग कर कितने सांवले गोरे हुए, इसका कोई आंकड़ा कंपनी के पास भी नहीं है। सत्ताईस अरब का व्यवसाय करने वाली यह क्रीम हर साल अठारह प्रतिशत की वृद्धि के साथ भारतीयों को गोरे रंग के सपने बेच रही है। भारत में हर वर्ष त्वचा को गोरा बनाने वाली दो सौ तैंतीस टन क्रीम की खपत होती है। कोक और पेप्सी से कहीं ज्यादा खर्च भारतीय अपने चेहरे के लिए कर रहे हैं।

देश के अधिकतर अखबारों में रविवार को प्रकाशित होने वाले वैवाहिक विज्ञापन हमारे अवचेतन में जमी लालसा का ही विस्तार नजर आते हैं। कोई भी विज्ञापन उठा लीजिए, सभी विवाह योग्य लडकियों के बारे में उनके श्वेतवर्ण होने को प्रमुख रूप से बताया जाता है। वहीं वधु चाहने वाले सारे वर 'फेयर कॉम्प्लेक्शन' यानी लड़की के गोरी होने को ही वरीयता देते नजर आते हैं। ऐसे में उत्तर प्रदेश जैसी घटना की पुनरावृत्ति हो जाए तो वह हैरान नहीं करेगी। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि बाहरी रंग और आवरण के मुकाबले व्यक्ति का चरित्र और स्वभाव महत्त्वपूर्ण होता है। शक्ल-सूरत से ज्यादा टिकाऊ सीरत रही है।

बहुसंख्यक समाज की मानसिकता को बदल देने में बाजार की शक्तियां किसी भी हद तक जा सकती हैं। मौजूदा समय में फिल्मी सितारे और नामचीन क्रिकेटर भी इस तरह के उत्पाद के लिए विज्ञापन करते नजर आ रहे हैं। अधिकतर विज्ञापनों का संदेश स्पष्ट होता है कि इसे आजमा कर उनका आत्मविश्वास बढ़ेगा और वे हर नामुमकिन काम कर सकेंगे। यकीन नहीं होता है कि कोई खुलेआम भ्रम बेच रहा है और समझदार उसे खरीद भी रहे हैं।

देश के सिनेमा के परिदृश्य में रंगभेद पर सबसे पहले फिल्मकार अभिनेत्री नंदिता दास ने आवाज उठाई थी। उन्होंने बाकायदा एक अभियान 'सांवला सलोना है' (द डार्क इस ब्यूटीफुल) के माध्यम से त्वचा के आधार पर हो रहे भेदभाव के खिलाफ आरंभ किया था। सांवले रंग के लोगों को नीचा दिखाने और उन्हें कमतर साबित करने वाले विज्ञापनों के विरुद्ध इस अभियान ने 'एडवरटाइजिंग स्टैंडर्ड काउंसिल' को अपनी आपत्ति भी दर्ज कराई। जवाब में काउंसिल ने विज्ञापनों के लिए एक दिशा-निर्देश जारी कर अपने कर्तव्य की इतिश्री कर ली। भ्रामक और नस्लभेदी विज्ञापन आज भी बदस्तूर जारी हैं।

हालांकि चुनिंदा ही सही, कुछ सितारे इस विषय की गंभीरता को समझ कर और लुभावनी रकम ठुकरा कर गोरा बनाने वाली क्रीम का विज्ञापन करने से इनकार कर चुके हैं, मसलन रणवीर कपूर, रणदीप हुड्डा, कंगना राणावत और अनुष्का शर्मा। बेशक गोरे रंग का प्रचार करने में फिल्मों की अहम भूमिका रही है। हिंदी फिल्मों के अधिकतर गीत गोरे रंग का ही महिमामंडन करते रहे हैं। आर्क लाइट में दमकते नायिका के सौंदर्य ने देश की नवयुवतियों को वैसा ही बनने के लिए प्रेरित किया है। लेकिन एक अपवाद भी है। गोरे रंग के हल्ले के बावजूद 1963 में बनी 'बंदिनी' के एक गीत 'मोरा गोरा रंग लेइले, मोहे श्याम रंग दईदे' गाकर सांवली हो जाने की गुजारिश करती नूतन इकलौती महान नायिका नजर आती हैं।

अंकों की दौड़

देश के लगभग सभी राज्यों में दसवीं और बारहवीं की परीक्षाओं के परिणाम घोषित कर दिए हैं। सबसे कठिन परीक्षा यूपीएससी के नतीजे भी आ चुके हैं। इसके बाद से मोबाइल, फेसबुक और अखबार परीक्षा में 'टॉप' करने वाले विद्यार्थियों की उपलब्धि गाथाओं से भरा पड़े हैं। बधाई उन बच्चों के गले का हार बनी है, जिन्होंने शत-प्रतिशत अंक हासिल किए हैं। पूरा समाज उनके लिए बांहें फैलाए है। खबरिया टीवी चैनलों के संवाददाता उनकी कामयाबी का राज जानने को बेताब हैं। हर बच्चा उन्हीं की तरह बन कर कामयाबी के शिखर को छूना चाहता है। पर यहां एक वाजिब सवाल यह उठता है कि एक सफल बच्चा उस बच्चे से कैसे बेहतर हो सकता है, जो तय समय में पढ़ी-समझी बातें ठीक से नहीं लिख पाया? यह समझ पाना बहुत मुश्किल है कि कैसे एक कम नंबर पाने वाले बच्चे को उससे कमतर कहा जा सकता है, जिसके नंबर उस बच्चे से अधिक आए हैं?

बात केवल भारत की नहीं है, दुनिया के तमाम बड़े देश इस बात की गवाही देते हैं कि वहां के इतिहास, विज्ञान, शोध, राजनीति, कला, सिनेमा में जितना योगदान कम नंबर लाने वालों का है, उतना दूसरे किसी का नहीं है। नोबेल पाने वालों की सूची इस बात का दूसरा सबसे बड़ा प्रमाण है कि बच्चे केवल स्कूल में फेल होते हैं। समस्या स्कूल की परीक्षा प्रणाली में है, उन बच्चों में नहीं, जो वहां कथित रूप से कमतर घोषित किए जाते हैं।

जिंदगी में अंकों की दौड़ बड़ी क्रूर है। जानलेवा प्रतिस्पर्धा में बच्चा कैसे टिकेगा? असल में ऐसा कहते ही हम मनुष्य और मनुष्यता दोनों पर संदेह के घोड़े दौड़ा देते हैं। दसवीं और बारहवीं की परीक्षाएं असल में कोई मील का पत्थर नहीं हैं। यह हमारी पुरानी, सड़-गल चुकी व्यवस्था की कमी है कि उसे अब तक बच्चों की प्रतिभा को सामने लाने का कोई दूसरा तरीका नहीं मिला है। हम दुनिया के उन देशों की ओर नहीं देख रहे हैं, जो आज भी बच्चे को सात साल के बाद स्कूल भेजने के नियम पर कायम हैं। हमने उन अमेरिकी कॉलेजों के बारे में आंख-कान बंद किए हैं, जहां सबसे अधिक समय इस बात पर दिया जाता है कि आपकी रुचि क्या है। बेकार की चीजों में समय मत लगाइए, खुद को समझिए। पीढ़ियां आईं और चली गईं, लेकिन हमारे स्कूल वैसे ही रहे। शिक्षा की रेलगाड़ी उसी पटरी पर दौड़ी जिसे अंग्रेज बिछा गए थे। हमने अपने टैगोर की विश्व भारती वाला रास्ता नहीं चुना। हमने शिक्षा के बारे में गांधी, बुद्ध और आइंस्टीन की बातें नहीं सुनीं। हम बच्चों को ढांचा बनाने में लग गए।

अपने बच्चे को हम सबसे बेहतर या टॉपर बनाना चाहते हैं। असल में हम उसे वह बनाना चाहते हैं, जो हम कभी नहीं बन पाए। इस कोशिश में हर बच्चा कैसे सफल हो सकता है? इसलिए हमें असफल बच्चे के साथ खड़ा होना होगा! हमें कड़े परिश्रम, अनुशासन का सौ प्रतिशत समर्थक होना चाहिए लेकिन परिणाम का नहीं। परिणाम के आधार पर बच्चे की क्षमता, योग्यता को मापना सही नहीं है। इसलिए जिन बच्चों के आशा के अनुरूप नंबर नहीं आए उन्हें बहुत बधाई। यह समय उनके साथ खड़े होने का है। उन्हीं में से कल कोई डॉक्टर, वैज्ञानिक या प्रोफेसर बनने वाला है। देश और समाज को उनसे बहुत उम्मीदें और आशाएं हैं।

● *रोहित यादव, महर्षि दयानंद विवि, रोहतक*

आतंक के खिलाफ

भारतीय खुफिया एजेंसियों द्वारा मुहैया कराई जानकारी के आधार पर सऊदी अरब में श्रीलंका हमलों के दो वांछित आतंकी पकड़े गए हैं। भारत ने हमलों के षड्यंत्र के बारे में श्रीलंका को लगातार खुफिया सूचनाएं भेजी थीं और अब भी उसे हर तरह का सहयोग दे रहा है। भारत जिस तरह आतंकवाद के विरुद्ध कठोर रवैया अपना कर दूसरे देशों की सहायता कर रहा है, उसी तरह अगर अन्य देश भी एक-दूसरे की मदद करने लग जाएं तो आतंकवाद का खात्मा हो जाएगा। इस कारण अन्य देश भी एक-दूसरे को शक की दृष्टि से देखना बंद कर देंगे और विश्व में शांति, सहयोग व भाईचारे की स्थापना हो जाएगी।

● *संजू कुमार, उत्तरादाबास, हनुमानगढ़, राजस्थान*

चुनौती के बरक्स

जयंतीलाल भंडारी का लेख 'विदेश व्यापार घाटे की चुनौती' (6 मई) सटीक आकलन पेश करता है। उसी संदर्भ में भारत के समक्ष चुनौती यह भी है कि यहां माल ढुलाई की लागत बहुत ज्यादा है। यह आश्चर्यचकित करने वाला तथ्य है कि छत्तीसगढ़ से मुंबई तक ट्रक में सामान भर कर ले जाने का किराया और मुंबई से एम्स्ट्रडम तक समुद्री जहाज से उसी सामान को ले जाने का किराया बराबर है। इसके अलावा विदेश व्यापार विभाग की निष्क्रियता, भ्रष्टाचार व लाल फीताशाही भी व्यापारियों के लिए नासूर बने हुए हैं। व्यापारियों को मिलने वाले लाभ प्राप्त करने के लिए निर्यातकों को अक्सर अधिकारियों की मुट्ठी गरम करनी पड़ती है। चीन के साथ हमारा बड़ा व्यापार घाटा होने का कारण सेवाओं में व्यापार न होना है, जहां भारत एक मजबूत स्थिति में है। इसके अलावा दुनिया अभी वैश्विक मंदी के ज्वर से पूरी तरह उबर नहीं पाई है, इसीलिए उत्पादों की मांग भी कम है।

ऐसे में भारत को चाहिए कि अपने निर्यात के आधारभूत ढांचे में गुणात्मक सुधार करे। अपने निर्यात में दोनों तरह की विविधता लाए, जिन वस्तुओं का निर्यात करना है उनमें भी और जहां करना है उसमें भी। परंपरागत क्षेत्र, जैसे कि वस्त्र उद्योग व चमड़ा उद्योग में बांग्लादेश और वियतनाम जैसे देशों से प्रतिस्पर्धा में बने रहने के लिए गुणात्मक सुधार करने होंगे। भारत को नई पहल, जैसे आरसीइपी में सेवाओं को शामिल करने के लिए कूटनीतिक दबाव भी बनाना चाहिए।

● *रणदीप मलिक, पटेल नगर, नई दिल्ली*

किसी भी मुद्दे या लेख पर अपनी राय हमें भेजें। हमारा पता है : ए-8, सेक्टर-7, नोएडा 201301, जिला : गौतमबुद्धनगर, उत्तर प्रदेश

आप चाहें तो अपनी बात ईमेल के जरिए भी हम तक पहुंचा सकते हैं। आइडी है : chaupal.jansatta@expressindia.com

सख्ती से शक्ति

चुनावों के दौरान राजनीतिक दलों की मनमानी और हिंसा की खबरें सुर्खियां बनती रही हैं। पश्चिम बंगाल में साफ-सुथरे चुनाव कराने में आ रही बाधा के चलते चुनाव आयोग के सामने खुद को साबित करने की चुनौती है। क्या उसका यह रुदन उचित है कि उसके पास पर्याप्त अधिकार नहीं हैं? क्या चुनाव में निष्पक्षता और भयमुक्त वातावरण सुनिश्चित करने के लिए उसे आलोचना के भय से मुक्त होकर काम नहीं करना चाहिए? आखिर ऐसा क्यों है कि चुनाव आयोग के 70 साल के इतिहास में आज भी टीएन शेषन, लिंग्दोह और केजे राव के बाद कोई नाम लोगों की जुबान पर नहीं चढ़ पाया है? टीएन शेषन और लिंग्दोह के पास भी उतनी ही शक्ति थी जितनी मौजूदा चुनाव आयुक्त के पास है, लेकिन उनकी वैसी धमक नहीं दिख रही जैसी दिखनी चाहिए।

● *हेमंत कुमार, गोराडीह, भागलपुर, बिहार*